आगमिक पृष्ठभूमि में राजशेखर का प्रतिभा-विषयक मत की समीक्षा

: डॉ. प्रियव्रत शुक्ल

भारतीय दर्शन की अनेक परम्पराओं, विशेषतः आगम से निःसृत एवं अभिनवगुप्त से म.म.गोपीनाथ कविराज तक विस्तृत, में प्रतिभा की अवधारणा का विवेचन एक समृद्ध दार्शनिक विश्लेषण एवं साधनाजन्य आनुभूतिक साक्ष्य के साथ उपलब्ध होता है। दूसरी ओर, देववाणी से जुड़े साहित्यिक क्षेत्र में महर्षि वेदव्यास, भर्तृहरि, भरत, राजशेखर,भामह, दण्डी, वाग्भट,रुद्रट,मम्मट, आनन्दवर्धन, जयदेव आदि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक इस आधारभूत सम्प्रत्यय की अनुप्रयोगात्मक एवं आलोचनात्मक रूप में उपलब्धि होती है।भारतीय दर्शन के वैदिक स्रोत से निर्गत कतिपय निकायों में भी प्रतिभा के समानार्थी संकेत मिलते हैं। निःसन्देह, यह एक ऐसा महत्वपूर्ण सम्प्रत्यय है जो भारतीय मूल के संस्कृत साहित्य, कला एवं दर्शन के क्षेत्र में बहुधा प्रयुक्त एवं विवेचित होता रहा है।साहित्य एवं दर्शन में मौलिक भेद स्पष्ट है।किन्तु चैतसिक अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के इन दो परस्पर भिन्न क्षेत्रों में भी रस एवं प्रतिभा की आध्यात्मिक एवं सौन्दर्यानुभूतिपरक अवधारणाओं के सन्दर्भ में समानाधिकरण्य के अनेक बिन्दु अवेक्षय हैं। प्रस्तुत आलेख में मेरा ध्येय, राजशेखर के प्रतिभा विषयक अभिमत को केन्द्र में रखते हुए, संस्कृत साहित्य(काव्य,नाट्यादि) के कुछ प्रसिद्ध प्राचीन एवं मध्ययुगीन हस्ताक्षरों के मत में एवं शैव व शाक्त आगमों की अद्यावधि सक्रिय दार्शनिक परम्पराओं में विवेचित प्रतिभाविषयक अन्यान्य अभिमतों का तुलनात्मक आलोड़न एवं उनकी मान्यताओं के दार्शनिक वैशिष्ट्य का आलोचन अभीष्ट है। अतएव, राजशेखर के मत को आगमिक पृष्ठभूमि में मूल्यांकित किया जाना प्रस्तावित है।

तटस्थ रूप से अध्ययन किया जाए तो काव्यगत प्रतिभा, वैज्ञानिक की प्रतिभा एवं आध्यात्मिक दृष्टि की परानुभूतिक प्रतिभा के मध्य पर्याप्त भेद निदर्शित किया जा सकता है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शिवाद्वयवादी आगमिक मत के आलोक में उक्त सभी को परानुभूतिक सन्दर्भ की समग्रतावादी दृष्टि के अन्तर्गत भी व्याख्यायित किया जा सकता है। सर्वप्रथम प्रतिभा की अवधारणा की आगमिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना उपयुक्त होगा। अभिनवगुप्त ने आगमिक एवं साहित्यिक दोनों ही सन्दर्भों में प्रतिभा की अवधारणा का विवेचन किया है। मध्यकाल में अभिनवगुप्त सदृश आगमों के प्रखर व्याख्याता के उपरान्त भारतीय दर्शन के समकालीन परिदृश्य में वैदिक एवं तान्त्रिक परम्पराओं के प्रति समन्वयात्मक एवं साधनापरक दृष्टि के सम्पोषक श्री अरविन्द एवं म.म.गोपीनाथ कविराज तथा नव्य वेदान्त के प्रवक्ता व तुलनात्मक विश्व दर्शन के गम्भीर अध्येता सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने प्रातिभ ज्ञान (‘Intuition’ के सदृश निरूपित करते हुए भी) का विशद् विवेचन किया है। भारतीय दर्शन में पुरातन काल से ही चेतना की मानवीय मस्तिष्क के बौद्धिक तल से परे ऊर्ध्वमुखी गति एवं तदनुसारिणी रहस्यमयी अनुभूति के विवरणों एवं परिकल्पनाओं का बाहुल्य है। साधना या

दैवी अनुग्रह से उपलब्ध साक्षात् अनुभूति एवं काव्य का सृजनात्मक पक्ष प्रतिभा के प्रभाव से ही ओतप्रोत है।इन दोनो ही क्षेत्रों में प्रातिभ ज्ञान विषयक अनेक विवेच्य बिन्दु उपलब्ध होते हैं। प्रातिभ ज्ञान परक तात्त्विक दृष्टि के संकेत तो अनेक आगमों में स्पष्ट रूप में इंगित है। ऐसा कहना त्रुटिपूर्ण नहीं होगा कि सृजनात्मकता का मूल प्रातिभ अनुभूति में ही निहित होता है। प्रातिभभूमिपरक साक्षात्कार एवं तदुपरान्त उपलब्ध तत्वार्थ-ज्ञान तथा उसकी सम्प्रेषणीयता को लेकर यह कहना प्रासंगिक होगा, "रचनाकार प्रातिभभूमि पर प्रतिष्ठित और स्व-स्थ रहकर उसे सम्प्रेषित करता है और खोजी भी उसी भूमि पर पहुँचकर उसका साक्षात्कार करना चाहता है।ये दोनों सम्प्रेषण और सम्प्रेषित तत्त्वार्थवगम हमारे स्वभाव की माँग हैं–वही उसका उत्स है।"[१] साधनापरक तथा साहित्य की सृजनशीलता में रहस्यदर्शी साधक एवं कवि क्रमशः अपनी-अपनी अनुभूतियों को सर्वथा मौलिक मानते हैं। इस सत्यपरक अनुभूति के बाद भी हमें उस रहस्य भरे अनुभव की अभिव्यक्ति तो किसी भाषा के माध्यम से करनी होती है और अनुभव के लिए साधन परम्परा एवं निर्देश भी परम्परा द्वारा ही प्राप्त किए जाते हैं। अनुभूति के नितान्त मौलिक होने पर भी साधनापरक या साहित्य की अभिव्यक्तियाँ किसी न किसी परम्परा से सम्बद्ध होती हैं या उनसे पुष्ट होती हैं; ऐसा सम्भवतः दो प्रातिभ अनुभूतियों में भूमि विषयक समानाधिकरण्य के कारण हो जाता हो। पाश्चात्य दर्शन से भारतीय दर्शन इस परिप्रेक्ष्य में सर्वथा असदृश है कि इसकी अधिकांश चिन्तन-सरणिओं में सामान्य व्यावहारिक अनुभूति-वैचित्र्य एवं परिकल्पना की अपेक्षा प्रातिभ अनुभूतियों या अतिमानसिक व आध्यात्मिक प्रकृति के साक्षात् अनुभवों एवं संतों तथा ऋषिओं द्वारा उपलब्ध कराए गए उनके सूत्रात्मक एवं रहस्यात्मक विवरण को केन्द्रीय महत्व दिया गया है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के परम्परागत चिन्तन क्रम में प्रतिभा के स्वरूप को निदर्शित करने के लिए म.म.गोपीनाथ कविराज का एक अत्युत्तम लेख, "The Doctrine of *Pratibhā* in Indian Philosophy"[२] दृष्टव्य है। दार्शनिकों के निकायगत विचारों पर अनुशीलन एवं निजसाधना में अनुभूत अनेक आगमिक प्रातिभ अर्थों के अनुशीलन के अनुक्रम में कविराज का स्वयं का भी एक विशिष्ट अभिमत पुनः अनुसन्धान का विषय बन जाता है।[३]

राधाकृष्णन् अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान(इन्ट्यूशन)एवं वैज्ञानिक प्रतिभा में सम्बन्ध को विस्तारपूर्वक रेखांकित करते हैं।[४] वे यह प्रतिपादित करते हैं कि विज्ञान,दर्शन,कला आदि के सभी सृजनात्मक कार्यों का प्रेरणा स्रोत वस्तुतः अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव ही है। यह बोध किसी मन में प्रखर या विकसित अवस्था में होता है तो किसी मन में साधारण स्थिति में। "प्रतिभा का अर्थ है सत्य के प्रति अत्यधिक सम्वेदनशीलता।"[५] अन्तर्दृष्टि का स्वतःस्फूर्त होकर वैज्ञानिक आविष्कार में प्रवृत्त होना इसी प्रतिभा के कारण सम्भव होता है। राधाकृष्णन् कहते हैं, "अन्तर्ज्ञान जीवन की पूर्णता से उद्भूत होने वाले निश्चय हैं जो स्वतःस्फूर्त होते हैं। वे बुद्धि या कल्पना के बजाय ऐन्द्रिक सम्वेदन के अधिक निकट होते हैं और दोनों से अधिक अनिवार्य भी होते हैं। उन पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। ऊपर की ओर होनी वाली ऊर्ध्वप्रेरणाएँ अचेतन और

अनैच्छिक की सृष्टि हैं।"[६] यहाँ जिसे राधाकृष्णन 'अनैच्छिक' कहते हैं उसे अपौरुषेय कहना सम्भवतः अनुपयुक्त नहीं होगा।

भारतीय काव्य में हेतु को लेकर प्रारम्भ से ही गहन चिन्तन-मनन होता रहा है; किसी ने प्रतिभा को एकमात्र महत्वपूर्ण हेतु माना है तो अन्यान्य विद्वानों ने इतर सहयोगी तत्त्वों के महत्व को भी स्वीकार किया है। समन्वयवादी विचारधारा का अनुगामी वर्ग प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीनों के समन्वित योगदान से काव्य की उपलब्धि मानता है। महर्षि वेदव्यास ने काव्य हेतुओं पर प्रकाश डालते हुए शक्ति, व्युत्पत्ति एवं विवेक को महत्व प्रदान किया है।[७] बिना प्रतिभा के अवलम्ब काव्य का उद्भव असम्भव प्रतीत होता है। महाभारत में प्रतिभा शब्द अनेक बार आया है और वहाँ इसका प्रयोग बहुधा पातञ्जल योग में ग्रहीत अर्थ में किया गया है। भामह के अनुसार तो प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति का ही काव्य में प्रवृत्त होना विहित है।[८] वे वस्तुतः प्रतिभा को प्रधान हेतु स्वीकारते हुए काव्यज्ञत्वपरक शिक्षा एवं शास्त्र ज्ञान को सहायक हेतु मानते प्रतीत होते हैं। काव्यहेतुओं पर चिन्तन करते हुए दण्डी ने स्वभावसिद्ध प्रतिभा, अनेक शास्त्रों के अनुशीलन एवं अभ्यास को महत्व दिया है।[९] वामन ने भी काव्य का मूल कारण या बीजरूप जन्मजात प्रतिभा को ही माना है जिसके अभाव में सृजित काव्य उपहास का विषय बनता है।[१०] प्रसिद्ध कवि आनन्दवर्धन ने प्रतिभा को ही कवित्व का प्रधान हेतु स्वीकार किया है। प्रजापति जैसा सृजनात्मक कार्य सम्पादित करने वाले कवि के वर्णन में अपूर्वता का निश्चित हेतु तो प्रतिभा ही है।[११] वहीं रुद्रट ने शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीनो तत्त्वों की उपस्थिति एक उत्तम काव्य के लिए आवश्यक निरूपित की है।[१२] हेमचन्द्र ने न केवल प्रतिभा को काव्य का मुख्य हेतु माना अपितु यह भी कहा कि व्युत्पत्ति और अभ्यास उस प्रतिभा का संस्कार करते हैं।[१३] इसी प्रकार वाग्भट ने भी काव्य के उद्भव का मुख्य कारण प्रतिभा को ही माना है एवं व्युत्पत्ति आदि को प्रतिभा का उपकारक मात्र निरूपित किया है।[१४] मम्मट का अभिमत समन्वयात्मक सा प्रतीत होता है। वे शक्ति या प्रतिभा को कवित्व बीजरूप संस्कार विशेष मानते हुए[१५] भी लोकशास्त्रगत या शिक्षाभ्यासजन्य निपुणता आदि को भी अपरिहार्य महत्व देते हैं। जयदेव ने शास्त्र-ज्ञान एवं शास्त्र-अभ्यास समवेत प्रतिभा को काव्य निर्माण का हेतु बतलाया है।[१६] पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य का हेतु तो प्रतिभा को ही माना है किन्तु उस प्रतिभा का कारण पृथक-पृथक भाव से दैवानुग्रह या महामानव की कृपा तथा शास्त्रालोचन एवं बारम्बार काव्यनिर्माण के प्रति प्रवृत्ति व अभ्यास को बतलाया है।[१७]

महाकवि राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ ***काव्यमीमांसा***[१८] के '*शिष्यप्रतिभा*' एवं '*व्युत्पत्तिकविपाकाः*' नामक चतुर्थ व पंचम अध्याय में प्रतिभा तत्त्व एवं व्युत्पत्त्यादि आनुषङ्गिक विषयों का गहन विश्लेषण किया है। राजशेखर की मान्यता है कि साहित्य चारों अथवा चौदहों विद्याओं का सरस निःस्पन्दनभूत पाँचवीं या, दूसरे क्रम से पन्द्रहवीं विद्या है जिसमें शब्द एवं अर्थ का यथावत् सहभाव है। "यथावत् सहभाव अर्थात् समप्रधान या चारुता अथवा रस-उद्बोध के निमित्त उनका परस्पर प्रतिस्पर्द्धी भाव सहभाव है। उनके अनुसार साहित्य के रचने और समझने में क्रमशः 'कारयित्री' और 'भावयित्री' प्रतिभा असाधारण कारण है।

पहली अपूर्व वस्तु निर्माण सक्षम प्रज्ञा है और दूसरी तत्त्वार्थावबोधिनी प्रज्ञा है।पहली नवनवार्थोन्मेषशालिनी है दूसरी तत्त्व अर्थात रचयिता का अभीष्ट निहितार्थ का बोध कराती है। अभिनवगुप्त ने कारयित्री को शिवा तक कहा है। हेमचन्द्र ने निरावृत चित और अन्यों ने निर्मलचित्त की क्षमता को प्रतिभा कहते हुए उसे आर्ष और अनार्ष की कोटियों में विभाजित किया है।"[१९] राजशेखर मति, स्मृति एवं प्रज्ञा तीनों को ही कवि के लिए उपकारी मानते हैं।निसर्गतः बुद्धिमान तथा आहार्यबुद्धि दोनों प्रकार के व्यक्तियों के बौद्धिक विकास की दृष्टि से गुरुसेवा एवं गुरुकृपा का महत्व निदर्शित किया गया है।[२०] ध्यातव्य है कि पञ्चकृत्यान्तर्गत आनुषङ्गिक 'अनुग्रह' की स्थिति से फलीभूत नित्य अथवा सनातन सद्गुरु तत्त्व आगमिक परम्परा की एक अपरिहार्य व केन्द्रीय मान्यता है। विविधार्थ का दर्शन सम्भव होना काव्य कर्म के लिए आवश्यक है और इसकी उपलब्धि चैतसिक एकाग्रता या समाहित चित्त में सम्भव है जो वस्तुतः समाधि की अवस्था है। ऐसा प्रतीत होता है कि शैवागमसम्मत तत्त्वस्वभावभूत 'विमर्शात्मक' स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का गहन अनुशीलन किया जाए तो व्यष्टि-चिति को उसकी ऊर्ध्वमुखता अथवा, प्रख्यात दार्शनिक यशदेव शल्य के शब्दों में कहें तो, उसकी 'प्रत्यङ्मुखता'[२१] में विविधार्थ का सृजनात्मक दर्शन उपलब्ध होता है।

राजशेखर तीन प्रकार के कवियों का उल्लेख करते हैं, शास्त्र कवि, काव्यकवि एवं उभयकवि; जिनमें से सभी स्वक्षेत्र में श्रेष्ठ हैं।यदि तीनों अथवा कविमात्र भी प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति से युक्त होते हैं। आनन्दवर्धन की मान्यता है कि प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के मध्य प्रतिभा ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह कदाचित अव्युत्पत्तिजन्य दोषों को भी आवृत कर लेती है किन्तु अशक्तिजन्य(उपचारतः, अप्रतिभाजन्य)दोष स्पष्टरूप से अभिव्यक्त रहता है। पुनः, राजशेखर आचार्य मेधावी के व्युत्पत्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले अभिमत को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करते हैं। तदनुसार, व्युत्पत्तिगत विदग्धता से प्रतिभाहीनताजन्य अथवा अशक्तिजन्य दोषों पर आवरण पड़ जाता है; प्रथमदृष्टया, उत्तरवर्ती दोषकारकों पर ध्यान नहीं जाता। किन्तु यायावरीय राजशेखर इन दोनों ही एकाङ्गी मतों के विपरीत श्रेष्ठ काव्य में प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति दोनों की उपादेयता स्वीकार करते हैं। वस्तुतः राजशेखर इस अभिमत के पोषक हैं कि प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति दोनों के समन्वय से श्रेष्ठता प्रतिफलित होती है,[२२] यथा लावण्य के अभाव में रूप-सम्पदा तथा रूप-सम्पदा के बिना लावण्य ऐकान्तिक रूप से शोभित नहीं होता; दोनों का समन्वित-साहचर्य ही श्रेयस्कर होता है।

काव्यशास्त्रगत प्रतिभा के विवरण के प्रसङ्ग में हमने शास्त्र ज्ञान के प्रति अभिज्ञता की आवश्यकता अनेक कवियों के द्वारा सङ्केतित पाई है। आगमिक मत के परम पोषक म.म.गोपीनाथ कविराज की आध्यात्मिक दृष्टि में शास्त्र का अर्थ दृष्टव्य है: "तुमलोग जिसे शास्त्र कहते हो वह *यथार्थ शास्त्र* नहीं है –वह *यथार्थ शास्त्र* का केवल बाह्य परिछिन्न प्रकाश है--- अनन्त चिदाकाश से जिस *बोधरूप वाणी* का उद्गम होता है वही शास्त्र है।ऐसी वाणी किसी शरीरधारी दिव्यमूर्ति की वाणी हो सकती है; अशरीरी के आकाशवाणी हो सकती है; हृदय से उठी हुई भाववाणी हो सकती है; अथवा गुरु स्थान से निकली हुई आज्ञास्वरूप ज्ञानरूप दिव्य

वाणी हो सकती है। कोई भी वाणी हो, वह मूलतः एक प्रज्ञास्वरूपा वाणी ही है, दूसरी नहीं।"[२३] अतः यह कहा जा सकता है कि मूलोन्मुखी या ऊर्ध्वमुखी 'सम्विद्' या 'चिद्' तत्त्व का सन्दर्भ ही वैखरी में व्यक्त किसी वाणी-विस्तार को 'यथार्थ-शास्त्र' की संज्ञा दिलवाने में सक्षम हो सकते हैं।शैवागमिक तत्त्वशास्त्र एवं उससे समानाधिकरण्य व सादृश्य रखने वाले वाग-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि वैखरीगत किसी भी वर्णन का महत्व उसके भाषा-जगत में शाब्दिक स्व-सन्दर्भ या वस्तु-जगत में वस्तु विशेष से सन्दर्भ रखने में निहित नहीं होता, अपितु ऐसा तो उसके 'परा' आदि मूल से निःसृत एवं तात्त्विक रूप में सम्बद्ध होने के कारण होता है।तत्त्व-मीमांसा के अभिकथनों को असत्यापनीय होने के आधार पर निरर्थक प्रतिपादित करने वाले कतिपय समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों को भी यह अनुबन्ध स्वीकार करना चाहिए कि किसी शास्त्र-विशेष का सन्दर्भ एवं स्वभाव ही उसके 'अर्थ-सिद्धान्त' के वैशिष्ट्य को निर्धारित कर सकते हैं।हिन्दी भाषा में कबीर, तुलसी या जायसी; अथवा संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत आध्यात्मिक रुझान रखने वाले अनेक कवि-गण जब जागतिक वाणी अर्थात वैखरी में अभेद एवं भेदाभेद आदि सृष्टि के ऊर्ध्व स्तरों के तत्त्वों एवं अनुभूतियों को सन्दर्भित करते हैं तो उनके काव्य में सहज ही चमत्कार का सृजन हो जाता है। काव्य में सहज-सम्भव यह प्रतिभा-प्रसूत चमत्कार उक्त विश्लेषणवादी दार्शनिकों को मानो निरर्थक प्रतीत होता है। कारण स्पष्ट है, वे सन्दर्भ परिवर्तित कर अथवा मौलिक सन्दर्भ को स्थगित रखते हुए अर्थ-निष्पादन में प्रवृत्त होते हैं। प्रत्यक्षगत सत्यापनीयता तो दूर की बात है, राजशेखर तो एक स्थल पर काव्यगत वर्णन के मूल में इन्द्रियानुभवमूलकता को भी अनपेक्षित मानते प्रतीत होते हैं। ***काव्य मीमांसा*** के चतुर्थ अध्याय में प्रतिभा को परिभाषित करते हुए यह महाकवि कहता है कि प्रतिभाहीन व्यक्तियों को पदार्थ-समूह अप्रकट रहते हैं, जबकि प्रतिभावान मनुष्य को ये पदार्थ न देखे हुए होने पर भी प्रत्यक्ष जैसे ही उपलब्ध रहते हैं। उदाहरण-स्वरूप वे महाकवि रुद्र,कुमारदास आदि जन्मान्ध कवियों का उल्लेख करते हैं।[२४] अतः यह भी कहा जा सकता है कि प्रतिभावान मनुष्य के लिए इन्द्रियप्राप्यकारित्व जैसा कोई अनुबन्ध आवश्यक नहीं प्रतीत होता। यदि आगमिक परिप्रेक्ष्य में पुनः दृष्टिपात करें तो स्मरण हो आता है कि वहाँ तो 'चिति' को ही प्रमाणस्वरूप स्वीकार किया गया है। विषय एवं विषयी; 'अहम' व 'इदम' दोनों ही 'चिति' या 'सम्वित' के अन्तर्गत हैं। इसी तत्त्वमीमांसीय संरचना के अनुक्रम में यह भी आपादित होता है कि कवि, उसका विषय अथवा वह जिससे उद्दीपन होता हो एवं उसकी कल्पना ये तीनों ही चिति के अन्दर का व्यापार है और इस सारी प्रक्रिया में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के वे तीन मूल मन्त्र सक्रिय माने जा सकते हैं जो "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः", "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" एवं 'तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात'[२५] के रूप में प्रसिद्ध हैं। पुनः "यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" के आगमिक सिद्धान्त के अनुसार समष्टि में जो जैसा चेतना का विविध स्तरीय व्यापार चलता है वैसा ही मानव-देह में भी अल्पस्तर पर घटित होता रहता है।

कविराज के आगमसम्मत मतानुसार ज्ञान को दो प्रकार का बतलाया गया है: बोधरूप एवं शब्दरूप। 'बोधात्मक पर ज्ञान' ही 'वागात्मक अपर ज्ञान' या वैखरीगत शब्द पर आरूढ़ होकर

अर्थ प्रकाशन में प्रवृत्त होता है।[२६] पुनः कविराज कहते हैं कि बोधभूमि या अतिक्रान्त बौद्धिकता को उपलब्ध चेतना ही उस सत्य दृष्टि की जनक होती है जो आर्ष अनुभूति के यथार्थ को व्यक्त कर सके।[२७] आध्यात्मिक दृष्टि निश्चित रूप से अखण्ड-दृष्टि होती है जो बोधभूमि को इंगित करती है। यह दृष्टि अवश्य ही प्रातिभ कही जाने योग्य है। स्पष्ट है कि कविराज के मतानुसार शास्त्रार्थ निरूपण के प्रसंग में भाषा व व्याकरण के ज्ञान की अपेक्षा योग व साधना के माध्यम से अर्जित अथवा अनुग्रहादि दैवी उपकरणात्मकता से उपलब्ध दृष्टि सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।दोनों ही प्रसंगों में इसे 'प्रातिभ' कहना उपयुक्त होगा। उल्लेखनीय है कि कविराज के दर्शन में प्रातिभ एवं प्रतिभा पदों का विशद् व बहुआयामी विवेचन मिलता है। कविराज ने आगमिक सन्दर्भ देते हुए प्रातिभ ज्ञान के दो प्रकार बतलाए हैं: एक,गुरुगत या आम्नायगत और दूसरा, स्वाभाविक।[२८] उनके द्वारा व्याख्यायित प्रतिभा के आध्यात्मिक सिद्धान्त को सम्पूर्णता से समझने के लिए परा-पश्यन्ती आदि वाग् प्रकारों के साथ-साथ तुरीयातीत पर्यंत जाग्रतादि अवस्थाओं का सन्दर्भ अपेक्षित है। इन सभी अवस्थाओं एवं चेतना अथवा वाग् के चरणों में सिद्ध पुरुष या सद्गुरु की गति निर्बाध होती है। गुरु को मन्त्र की शक्ति का प्रकाशक बतलाया गया है।इससे द्योतित होता है कि न केवल मानवीय चेतना में शिवभाव या शाम्भव-समावेश की बात महत्वपूर्ण है बल्कि यह उससे भी अधिक उल्लेखनीय तथ्य है कि भाषागत या वैखरी रूप में प्राप्त मन्त्र भी गुरु के साहाय्य से ही शक्ति सम्पन्नता को प्राप्त कर पाता है। इस दैवी या गुरुप्रदत्त प्रातिभ दृष्टि के अनुग्रह को प्राप्त कर ही शिष्य मन्त्रों की शक्ति व अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ हो पाता है। आगम परम्परा के ग्रन्थ ***मालिनी विजय*** में शिव स्वयं पार्वती से यह कहते हुए बतलाए गए हैं:"स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्य प्रकाशकः।"

गोपीनाथ कविराज प्रातिभ शक्ति का प्रकाश गुरु सदृश आध्यात्मिक माध्यम से ही सम्भव बतलाते हैं। उनका कथन है: "सद्गुरु के बिना मार्ग का सन्धान कोई नहीं पाता।...सद्गुरु वस्तुतः श्री भगवान हैं, उनकी अनुग्रह शक्ति ही 'गुरुपद' वाच्य है।वे उपदेश हैं...और उपाय भी वे ही स्वयं हैं।...एक उपयुक्त आधार का अवलम्बन करके गुरु रूपी श्री भगवान जीव के सामने अपनी अनुग्रहशक्ति को प्रकाशित करते हैं। इस शक्ति प्रकाश की धारा अखण्ड है।जीव की योग्यता विभिन्न प्रकार की होती है अतएव विभिन्न जीवों के सामने विभिन्न भाव से इस शक्ति का प्रकाश होता है।"[२९] आगमिक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि वैखरी स्तरीय वाग् की पराभिमुखता में ही कविराज-प्रोक्त प्रतिभा का सन्धान उपयुक्त होगा; यह दिव्यभावसमावेश की स्थिति होगी जिसकी उपलब्धि में स्वयं शिव,गुरु आदि के अनुग्रह की अपेक्षा होगी।

परानुभूतिक सन्दर्भ के शास्त्रार्थ-निष्पादन के लिए प्रतिभामूलक दृष्टि एक अनिवार्य प्रागपेक्षा है। म.म.गोपीनाथ कविराज तो शास्त्रों के अर्थबोध में भी प्रतिभा को प्रधान कारण मानते प्रतीत होते हैं। आगमिक शास्त्र के अन्तरतम यथार्थ के बोध के लिए अपेक्षित आध्यात्मिक दृष्टि की उपलब्धि,जो गुरु अथवा दैव कृपा से सम्भव बतलाई गई है, प्रतिभा का ही रूप होती है: "जो सद्गुरु के आदेशानुसार यथार्थ योग मार्ग में प्रविष्ट नहीं हैं, उनके लिए शास्त्रोपदेश का गूढ तात्पर्य

समझना अत्यन्त दुरूह है।...सारे शास्त्रों के *बहिरङ्ग* उपदेश देश काल आदि की विचित्रता के कारण विभिन्न प्रकार के होते हैं, परन्तु *अन्तरङ्ग* उपदेश एक और अभिन्न है।....स्थलविशेष में व्याख्याकर्ता की व्याख्या प्रणाली के साथ साधक विशेष का किसी अंश में मतभेद हो सकता है, किन्तु *किसी भी शास्त्र का यथार्थ मर्म समझने के लिए आध्यात्मिक दृष्टि* आवश्यक है और योगी के सिवा अन्यत्र वह दृष्टि सुलभ नहीं है।"[३०] इस गद्यांश के अन्तिम भाग से प्रतिभा का योगविषयक साधना से सम्बन्ध स्पष्ट हो रहा है।शास्त्र के यथार्थ मर्म को समझने वाली दृष्टि को आध्यात्मिक दृष्टि या प्रतिभा दोनों ही कहा जा सकता है।शास्त्र यथार्थ अनुभूति के प्रतीक स्वरूप हैं; अतः जिसकी गति प्रतीकों के अर्थ-सन्धान तक में हो सकती है उसको भला मूल अनुभूति के दिव्यांश को समझने में क्या कठिनाई हो सकती है? उसकी स्थिति तो प्लेटो दर्शन के उस अनुयायी जैसी हो जाएगी जिसे सांसारिक वस्तु को देखते ही तत्सम्वादी विज्ञान(Idea) विशेष अर्थात् सत्त्व की स्मृति हो आती हो। वह प्रतिभावान व्यक्ति तो सुन्दर वस्तु को देखते ही अतिसम्वेदनशीलता एवं मर्मभेदी क्षमता के कारण साक्षात् सौन्दर्य की अवधारणा को ग्रहण करने में समर्थ होगा। इस विवेचन को कुछ विस्तार दिया जाए तो यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि आगमिक और वैदिक दोनों ही परिप्रेक्ष्यों में रहस्यात्मक वाग्-सिद्धान्त को दृष्टिगत रखते हुए शास्त्रों के अर्थबोध के दो आयाम उभरते हैं और दोनों में ही प्रतिभा को योगदान अपेक्षित है।प्रथमतः वैखरी-भावापन्न अथवा भाषा-निबद्ध शास्त्र के प्रतीकात्मक वचनों के अर्थ-वैचित्र्य का सृजनात्मक बोध एवं अपौरुषेय प्रकृति के शास्त्र के निहितार्थ-बोध दोनों ही प्रतिभा-सापेक्ष हैं; दूसरी ओर, आध्यात्मिक अनुभूति से सम्पन्न सिद्ध पुरुष अपने परा-देशीय अनुभव-वैचित्र्य को वैखरी में व्यक्त करने के लिए नवीन पदों व प्रतीकों की सृष्टि करने में प्रातिभ शक्ति का अनुप्रयोग करता है। प्रथम के उदाहरण शंकराचार्य आदि हो सकते हैं तो वहीं दूसरे का दृष्टान्त श्री अरविन्द स्वतः हैं। कवि की कल्पना का प्रात्ययिक-संधारण(Ideation or formation of idea) मध्यमा एवं पश्यन्ती के मध्य के वाग्-स्तर में उद्भूत माना जा सकता है। कविराज के उक्त उद्धरण पर विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि प्रातिभ दृष्टि एवं क्षमता की उपलब्धि में सद्गुरु के अनुग्रह की महती भूमिका है।आध्यात्मिक दृष्टि से तो इसे शक्तिपात की अवधारणा से भी सन्युक्त माना जाना चाहिए।

महाकवि राजशेखर एवं आगमिक परम्परा के सर्वप्रमुख भाष्यकार अभिनवगुप्त के मध्य प्रतिभा के सम्प्रत्यय को लेकर स्पष्ट मतवैभिन्न्य है। राजशेखर शक्ति और प्रतिभा में अन्तर करते हुए काव्योद्भव में प्रतिभा को एक महत्वपूर्ण तथ्य मानते हैं, किन्तु, उनकी दृष्टि में शक्ति स्वतः प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति दोनों ही की पूर्ववर्ती एवं उनकी कारक है।शक्ति-सम्पन्न में ही प्रतिभा का उदय होता है तथा वही व्युत्पन्न होता है।राजशेखर प्रतिभा को परिभाषित करते हुए स्पष्ट करते हैं कि जो शब्द-समूह, अलङ्कार-शास्त्र, उक्ति-मार्ग आदि अन्य भी ऐसे ही काव्य से सम्बद्ध पदार्थों को कवि-हृदय में प्रतिभासित कर सके उसे ही प्रतिभा कहते हैं।[३१] यथा आचार्यों द्वारा कथित, बहुज्ञता की पृष्ठभूमि में सर्वदिशा में कवि की गति को सम्भव बनाने वाली, व्युत्पत्ति राजशेखर के मतानुसार वह है जो उपयुक्तता-अनुपयुक्तता एवं उचित-अनुचित के मध्य विवेक करती है। दूसरी ओर, अभिनवगुप्त जो 'कुल' सम्प्रदाय के प्रभाव के फलस्वरूप प्रतिभा को 'परा' अथवा 'अनुत्तर'

तत्त्व सदृश मानते थे। पुनः, 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन के प्रभावस्वरूप प्रतिभा का महेश्वर से तादात्म्य मानते थे। किसी भी स्थिति में उनके मत में प्रतिभा एवं शक्ति परस्पर पर्याय माने गए हैं।[३२] अब यदि अभिनवगुप्त के मतानुसार यह मान लिया जाय कि प्रतिभा महेश्वर व परा से तादात्म्यभूत है; अतः सर्वशक्तिमान है, तो उचित-अनुचित आदि के निर्धारणार्थ किसी ऐसी इतर शक्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती जिसे राजशेखर अपेक्षित मानते हैं। यही कारण है कि *घट कर्पर कूलक विवृति* में अभिनवगुप्त शक्ति अथवा प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के मध्य अन्तर नहीं मानते। किन्तु वे व्युत्पत्ति को अन्य अनेक अर्थों में भी मानते हैं, और इन अन्य सन्दर्भों में प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति में इतना अन्तर तो उन्हें स्वीकार्य है कि प्रथम कारणभूत है एवं उत्तरवर्ती कार्यरूप है।[३३] किन्तु सामान्यतः कारण-कार्य में तादात्म्य को प्रतिपादित करते हुए, जैसा कि शिवाद्वयवादी विचारधारा में सम्भव है, वे व्युत्पत्ति-सामान्य एवं प्रतिभा में तादात्म्य की बात करने लगते हैं।

आगमिक मूल का शिवाद्वयवाद, जिसकी तुलना श्री अरविन्द के समग्राद्वैतवाद(integral-monism) से भी की जाती है, व्यष्टि-चिति अर्थात 'चित्त' एवं समष्टि-चिति अर्थात 'सम्वित तत्त्व; अथवा अन्य दृष्टि से देखें तो पिण्डस्थ सत्ता अथवा क्षुद्र ब्रह्माण्ड (microcosm) एवं बृहत् ब्रह्माण्ड (macrocosm) के मध्य तात्त्विक अभेद एवं संरचनात्मक सादृश्य मानता है। ज्ञान-क्रिया समवेत, प्रकाश-विमर्शमय, पञ्चकृत्यकारी शिव के ही सदृश मानवदेहधारी जीव भी स्वातन्त्र्य-वैविध्य का स्वभावतः उपभोग करता है। व्यष्टि-चिति सर्वसमावेशक होते हुए स्वतः प्रामाण्य को भी एक तरह से सुनिश्चित करती है। उक्त परिप्रेक्ष्य में प्रतिभा की अवधारणा का विश्लेषण किया जाए तो राजशेखर एवं अभिनवगुप्त दोनों की ही कतिपय मान्यताओं पर प्रचुर प्रकाश डाला जा सकता है। विस्तारभय से हम अभी उन तुलनात्मक आयामों को स्थगित रख रहे हैं। प्रतिभा का वाग्देवी की पश्यन्ती भूमि से तादात्म्य निरूपित किया गया है।[३४] प्रत्यभिज्ञा दर्शन जो 'चिति' या 'सम्वित' एवं उसके प्रकाश-विमर्शमय स्वातन्त्र्यमूलक व्यापार *(अकृत्रिम अहं मात्र विमर्श)* से ही समस्त अस्तित्व की व्याख्या कर लेता है, अन्यान्य दार्शनिक निकायों एवं उनके सिद्धान्तों में प्रदर्शित वैशिष्ट्य की पृष्ठभूमि में भी चेतना के स्वातन्त्र्य को ही कारण बतलाता है। ***प्रत्यभिज्ञा हृदयम*** में अभिनवगुप्त के प्रखर शिष्य क्षेमराज का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्र है, *"तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः"* (सूत्र-८)। यदि इसी आगमिक सूत्र के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न कवियों की प्रातिभ दृष्टिओं एवं उनकी कृतियों की समीक्षा की जाए तो यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि अन्यान्य कवियों की काव्यगत दृष्टि एवं उनका सृजन 'परा-सम्वित' की पर्यायभूत 'परावाक्' के आत्मविमर्शन के क्षणों में अनुभूत विभिन्न सोपान अथवा भूमियाँ मात्र हैं। पुनः एक तथ्य और भी उल्लेखनीय प्रतीत होता है कि काव्यगत प्रतिभा एवं शक्ति के सिद्धान्त को यदि हम आगमिक परिप्रेक्ष्य एवं आध्यात्मिक सन्दर्भ में समझने का प्रयास करते हैं तो निश्चित रूप से कोई साम्प्रत्ययिक-हानि होने अथवा अवधारणा विशेष के बोध में इतर क्षेत्र में प्रवेश के फलस्वरूप अस्पष्टता की स्थिति बनने के स्थान पर एक मूलोन्मुखी व्याख्या को विस्तार मिलेगा। प्रतिभा को लेकर मूलतः सौन्दर्यमीमांसीय दृष्टिकोण के पोषक[३५] महाकवि राजशेखर के काव्य एवं

नाट्यगत अन्यान्य सिद्धान्तों, शाब्दिक प्रतीकों एवं चरित्रों को गहनता से समझने में आगमिक सन्दर्भ अत्यन्त प्रासंगिक एवं महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ:-

१. त्रिपाठी, राममूर्ति, *"तत्वावबोध साधनीभूत पारम्परिक सरणियों की प्रासंगिकता"*, संस्कृत विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर में आयोजित राजशेखर संगोष्ठी-१९९७ में प्रस्तुत शोध आलेख।

२. कविराज,म.म.गोपीनाथ, ***Selected Writings of M.M. Gopinath Kaviraj***, म.म.गोपीनाथ कविराज जन्म शताब्दी समारोह समिति, माता आनन्दमयी आश्रम, वाराणसी:१९९०, पृष्ठ-१–४५.

३. मेरे निर्देशन में पी-एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. अशोक नारायण शुक्ल द्वारा लिखा गया अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, *"**समकालीन भारतीय दर्शन में प्रातिभ ज्ञान का स्वरूप : श्री अरविन्द, सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं म.म. गोपीनाथ कविराज के सन्दर्भ में**."*

४. राधाकृष्णन,सर्वपल्ली,***जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*** , मूल ***An Idealistic View of Life*** का कृष्णचन्द्र द्वारा हिन्दी अनुवाद,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण,१९६७, पृष्ठ२१६-२१७.

५. ***तदेव***, पृष्ठ२१७.

६. ***तदेव***, पृष्ठ२२३-४.

७. "नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र च दुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा॥
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः॥" (***अग्निपुराण***,३३७/४-५)

८. "काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥" (भामह, ***काव्यालंकार***, प्रथम परिच्छेद-८)

९. " नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥"(दण्डी, ***काव्यादर्श***, प्रथम परिच्छेद, कारिका-१०३)

१०."कवित्व बीजं प्रतिभानम,कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्।
जन्मान्तरसंस्कारविशेषः कश्चिद् यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते,निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्॥
(वामन, ***काव्यालंकारसूत्र***, ११)

११. "अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
न काव्यार्थविरामोस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः।
सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः॥"
(आनन्द वर्द्धन, ***ध्वन्यालोक***, तृतीय उद्योत, पृष्ठ ३१२ एवं कारिका-४/६)

१२. "तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणम्।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥"(रुद्रट, ***काव्यालंकार***, १/४)

१३. "प्रतिभास्य हेतुः व्युत्पत्त्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कारकाविति।"
(हेमचन्द्र, ***काव्यानुशासन***, पृष्ठ-५-६)

१४. "प्रतिभाकारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा॥"(वाग्भट, ***वाग्भटालंकार***, परिच्छेद १/३)

१५. "शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेषः। या□विना काव्य□न प्रसरेत्□प्रसृत□वा उपहसनीय□ स्यात□।"(मम्मट, ***काव्यप्रकाश***, श्लोक-३,व्याख्या भाग)

१६."प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविता□प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव॥"(जयदेव, ***चन्द्रालोक***, १/६)

१७. "तस्य च कारण□कविगता कश्चला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितः। तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम,□ क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकारणाभ्यासौ।"

(पण्□तराज जगन्नाथ, ***रसगङ्गाधर***, प्रथम आनन, पृष्ठ-२७-२९)

१८. राजशेखर, ***काव्यमीमांसा*** ,गंगासागर राय द्वारा 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,१९८२.

१९.त्रिपाठी, राममूर्ति, *"तत्त्वावबोध साधनीभूत पारम्परिक सरणियों की प्रासङ्गिकता" ।*

२०. "अहरहः सुगुरूपासना तयोः प्रकृष्टो गुणः। सा हि बुद्धिविकासकामधेनुः।"(***काव्य मीमांसा***, अध्याय-४, पृष्ठ -२३).

२१. द्रष्टव्य, मेरे□द्वारा लिखित आलेख "चेतना की सृजनात्मक प्रत्यङ्मुखता" ***यशदेव शल्य का दर्शन***, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रकाशित, नई दिल्ली,२००२.

२२. "प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेत□श्रेयस्यौ इति यायावरीयः।"(***काव्य मीमांसा***, अध्याय-५, पृष्ठ-३६).

२३. म.गोपीनाथ कविराज,***भारतीय संस्कृति और साधना***, द्वितीय खण्□,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,१९७९; पृष्ठ-९५.

२४. राजशेखर, ***काव्य मीमांसा***, चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ-२६.

२५. क्षेमराज, ***प्रत्यभिज्ञा हृदयम***,□सूत्र-१,२ एव□३.

२६. कविराज, म.म.गोपीनाथ, ***तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त***, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,द्वितीय संस्करण-१९९४;पृष्ठ-३१.

२७. कविराज, म.म.गोपीनाथ, ***अन्तर्यात्रा***, भारतीय विद्या प्रकाशन,दिल्ली,१९९१; पृष्ठ-२५-२६.

२८. कविराज, म.म.गोपीनाथ, ***तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि***, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना:१९९४,पृष्ठ-२५.

२९. कविराज, म.म.गोपीनाथ, ***भारतीय संस्कृति और साधना***, पृष्ठ-१९-२०.

३०. कविराज, म.म.गोपीनाथ, ***भारतीय धर्म साधना***, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी:२००१,पृष्ठ-३२.

३१. "या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदय□प्रतिभासयति सा प्रतिभा।"(***काव्य मीमांसा***, चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ-२५–२६).

३२. "शक्तिः प्रतिभानम□।"(***ध्वन्यालोक लोचन***, 'बालप्रिया' टीका का□ साथ, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९४०, पृष्ठ-३१७).

३३. ***तन्त्रालोक***, काश्मीर संस्कृत सीरीज़, आह्निक-XIII,८९ .

३४. कान्ति चन्द्र पाण्डेय, ***Abhinavagupta: An Historical and Philosophical Study***, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९६३,पृष्ठ-७३२.

३५. "Rajshekhar's approach to *Pratibhā* is from the aesthetic point of view. *Pratibhā*, according to him, is one of the essentials of poetic production."(***तदेव***, पृष्ठ-७२५)

उपाचार्य,
स्नातकोत्तर अध्ययन एवं□शोध विभाग-
दर्शनशास्त्र,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,